शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

मार्च : १९५९ ☆ वर्ष चौदहवाँ, फाल्गुन वीर नि. सं. २४८५ ☆ अंक : ११

अध्यात्म-श्रवण का

परम उत्साह और विनय

''अहा, आत्मा में ही आनन्द है; आत्मा सिद्ध भगवान जैसा है''—ऐसे अध्यात्म का श्रवण करानेवाले संत का मिलना अनंत काल में अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे अध्यात्म के श्रवण में जीव को अत्यन्त विनय एवं अत्यन्त पात्रता होना चाहिये।

(यहाँ परमभक्तिपूर्वक गद्गद्भाव से गुरुदेव कहते हैं कि—)

अहाहा! भावलिंगी संत-मुनि मिलें और ऐसी अध्यात्म की बात सुनायें तो उनके चरणों में बैठकर.. अरे! उनके पैरों के तलबे चाटकर भी यह बात सुननाा चाहिये।

[— वीर सं० २४८४, मगसिर कृष्णा ३]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१६७]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव मुंबई का महान प्रभावक भव्य महोत्सव

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) से प्रस्थान करके बीच में पावागढ़ बड़वानीजी आदि तीर्थ धाम की यात्रा करते हुये पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ता० २५-२-५९ के दिन मुंबई पधारे। बड़े भारी उत्साह के साथ बड़े समारोहपूर्वक आपका भव्य स्वागत हुआ। प्रतिष्ठा कार्य मुंबादेवी टंक प्लाट में श्री महावीर नगर बनाकर किया गया था। इसी में पूज्य गुरुदेव का प्रात:काल श्री समयसारजी शास्त्र के कर्ताकर्म अधिकार पर प्रवचन होता था। दोपहर में श्री पद्मनंदि पंचविंशति में से दान अधिकार पर प्रवचने होते थे। महावीर नगर की मुंबई व आसपास के इलाके में अच्छी प्रसिद्धि हो गई थी, अत: अति भव्य सुसज्जित मंडप में ८-१० हजार श्रोताओं के समक्ष भव्य प्रवचन हुआ करता था। श्रोतागण शांति पूर्वक मंत्रमुग्ध हुये सुनते थे। इस सभा का दृश्य वास्तव में प्रशंसनीय व दर्शनीय था। गुरुदेव के शास्त्र प्रवचन भी ऐसी विशाल आम सभा के योग्य और स्पष्ट होते थे। प्रतिष्ठाचार्य विद्वान श्री नाथूलालजी शास्त्री इंदौर थे। माघ सुदी १ से ६ तक श्री १००८ श्री नेमिनाथ प्रभु की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का महोत्सव मनाया गया जो बड़ा भारी शानदार और धर्मप्रभावना में सर्वोत्तम था, एवं पूर्ण रूप से व्यवस्थित था। बाद माघ सुदी ८ ता० १७-२-५९ के दिन ६५० की संख्या में तीर्थ यात्रा संघ दक्षिण यात्रा निमित पूज्य गुरुदेव के साथ रवाना हो गया।

नोट—यह समाचार संक्षिप्त दिये गये हैं, विशेष पूर्ण समाचार पोस्ट की गड़बड़ी से पहुँचे नहीं हैं, जो आगामी अंक में दिये जायेंगे।

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेक चन्द दोशी, वकील

मार्च : १९५९ ☆ वर्ष चौदहवाँ, फाल्गुन वीर नि. सं. २४८५ ☆ अंक : ११

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[४२]

कर्तृत्वशक्ति

[गतांक नं० १६६ से आगे]

अहो, आत्मा की यह शक्तियाँ बतलाकर अमृतचन्द्रदेव ने अमृत बहाया है... अरे जीव! तुझमें ऐसी-ऐसी शक्तियाँ हैं, तो अब तुझे बाह्य में कहाँ अटकना है ? अंतर में अपनी शक्तियों से परिपूर्ण सर्व गुण सम्पन्न अपने आत्मा का ही अवलम्बन कर, ताकि भव-दुःख से उद्धार होकर मोक्ष-सुख की प्राप्ति हो।

निर्मल कार्यरूप जो कर्म, उसरूप आत्मा स्वयं होता है—ऐसा कर्मशक्ति में बतलाया। अब, निर्मल कार्य तो हुआ किन्तु उस कार्य का कर्ता कौन ? उस कार्य का कर्ता कोई दूसरा नहीं किन्तु आत्मा स्वयं ही उसका कर्ता होता है—यह बात कर्तृत्वशक्ति में बतलाते है:—'होने रूप ऐसा जो सिद्धरूपभाव उसके भावकपनेमयी, कर्तृत्वशक्ति है।' आत्मा में एक ऐसी शक्ति है; इसलिये अपने निर्मलभाव का कर्ता स्वयं ही होता है। पहले २१वीं अकर्तृत्वशक्ति में ऐसा बतलाया था कि ज्ञातास्वभाव से भिन्न जो समस्त विकारी परिणाम, उनके कर्तापने से निवृत्तस्वरूप आत्मा है;

और अब, ज्ञातास्वभाव के साथ एकमेक जो अविकारी परिणाम, उनका कर्ता आत्मा है—ऐसा इस कर्तृत्वशक्ति में बतलाते हैं। इसप्रकार भगवान आत्मा विकार का अकर्ता और शुद्धता का कर्ता—ऐसे स्वभाववाला अनेकान्त मूर्ति है।

कर्तृत्वशक्ति, राग के आधार से नहीं है किन्तु आत्मद्रव्य के आधार से है; इसलिये राग कर्ता होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य नहीं करता किन्तु आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य करता है। ऐसे आत्मस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है, वह स्वयं कर्ता होकर अपने सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह सिद्धरूप भाव है और आत्मा उसका भावक है। भवनरूप भाव में तन्मय होकर, उसका भावक होकर आत्मा स्वयं उसे भाता है अर्थात् उसे करता है,—ऐसी उसकी कर्तृत्वशक्ति है।

कर्मरूप से आत्मा ही परिणमित होता है, कर्तारूप से भी आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है; साधनरूप से भी स्वयं ही परिणमित होता है। कर्ता-कर्म-करण आदि छह कारक भिन्न-भिन्न नहीं है किन्तु अभेद है; आत्मा स्वयं अकेला ही कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरणरूप होता है; छह कारकों रूप तथा ऐसी अनंत शक्तियों रूप आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है। इसप्रकार एक साथ अनंत शक्तियों का परिणमन ज्ञानमूर्ति आत्मा में उछल रहा है; इसलिये वह अनेकान्तमूर्ति भगवान है।

अपने ज्ञानादि कार्य का कर्ता आत्मा स्वयं ही है और उसका साधन भी अपने में ही है। पहले २९४ वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा था कि 'आत्मा और बन्ध को द्विधा करनेरूप कार्य में (अर्थात् भेदज्ञानरूप कार्य में) कर्ता जो आत्मा, उसके करण सम्बन्धी मीमांसा (गहरी जाँच, विचारण) की जाने पर, निश्चय से अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है...' देखो, भेदज्ञानरूप कार्य का कर्ता आत्मा स्वयं ही है और उसका साधन भी अपने में ही है। कर्ता का साधन वास्तव में कर्ता से भिन्न नहीं होता; कर्ता से भिन्न जो भी साधन कहा जाये, वह वास्तव में साधन नहीं है। 'अपने से भिन्न करण का अभाव है'—इसमें तो महानियम भर दिया है। अरे जीव! अपने साधन की गहरी जांच अपने में ही कर... अपने में ही साधन को शोध। जो बाह्य में साधन को शोधते हैं, वे साधन की गहरी जाँच करनेवाले नहीं, किन्तु उथले ज्ञानवाले-बाह्य दृष्टिवाले हैं। **जो आत्मा के ज्ञान के साधन की यथार्थ मीमांसा करें—गहरी जाँच करें—अंतर में अंतर उतरकर खोज करें, उन्हें तो अपनी पवित्र प्रज्ञा ही अपना साधन**

भासित होती है, इसके अतिरिक्त राग या परद्रव्य उसे अपने साधनरूप से भासित ही नहीं होते। साधन सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण अब ४३ वीं शक्ति में आयेगा; इस समय कर्तृत्वशक्ति का वर्णन चल रहा है।

आत्मा की ऐसी कर्तृत्वशक्ति है कि अपने ज्ञानादि कार्य का कर्ता स्वयं ही होता है। क्या भगवान की दिव्यध्वनि इस आत्मा के ज्ञान की कर्ता है ?—नहीं; केवली-श्रुतकेवली के निकट ही क्षायिक सम्यक्त्व हो—ऐसा नियम है, तो क्या केवली-श्रुतकेवली इस आत्मा के क्षायिक सम्यक्त्व के कर्ता हैं ? नहीं; उसरूप होकर उसके कर्ता होनेरूप कर्तृत्वशक्ति आत्मा की ही है; उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती।

शरीरादि जड़ में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे आत्मा के कार्य के कर्ता हों। राग में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कार्यों का कर्ता हो। आत्मा के स्वभाव में ही ऐसी शक्ति है कि वह अपने सम्यग्दर्शनादि कार्य का कर्ता होता है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा को जो भजे, उसे सम्यग्दर्शनादि कार्य हुए बिना नहीं रहता।

लोग पूछते हैं कि हम किसे भजें ?—तो कहते हैं कि शक्तिमान को भजो। वास्तव में शक्तिमान कौन है, उसका स्वरूप जानना चाहिये। शक्तिमान कौन है, उसका स्वरूप लोग नहीं जानते। सच्चा शक्तिमान अपना आत्मा ही है; इसलिये उसी का भजन (श्रद्धा-ज्ञान और लीनता) करने योग्य है। यहाँ आचार्यदेव शक्तिमान आत्मा की पहिचान कराते हैं। आत्मशक्ति को जाने बिना दूसरों को (कुदेव-देवी, शक्ति-मैली माता आदि को) शक्तिमान मानकर भजता रहे तो उनके पास से कुछ मिल नहीं सकता। कुदेवादि को जो भजता है, वह तो महामूढ़ है। अरे मूढ़ ! तेरी शक्ति पर में नहीं है कि वह तुझे कुछ दे दे। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा को जाने बिना मात्र राग से पंचपरमेष्ठी को भजता रहे तो वह भी वास्तव में शक्तिमान को नहीं भजता किन्तु राग को ही भजता है; पंचपरमेष्ठी को वह पहिचानता नहीं है और न वास्तव में पंचपरमेष्ठी का भजन ही उसे आता है। यदि पंचपरमेष्ठी की शक्ति को जानकर उनका भजन करे तो उन्हीं जैसे अपने आत्मा की शक्ति को जानकर उस शक्तिमान को और उन्मुख हुए बिना न रहे। अपना आत्मा ही ऐसा शक्तिमान है कि उसका भजन करने से वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अनंत निधान देता है, केवलज्ञान और सिद्ध दशारूपी कार्य एक क्षण में कर देने की उसकी शक्ति है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा का भजन ही परमार्थ भक्ति है; उसका फल मुक्ति है।

'शक्तिमान को भजो।'—ऐसा कहने से जीवों की दृष्टि बाह्य में दूसरों की ओर जाती है; परन्तु 'मैं स्वयं ही शक्तिमान हूँ'—इसप्रकार अपनी ओर दृष्टि नहीं करते। इस सम्बन्ध में एक लौकिक दृष्टान्त आता है, वह इसप्रकार है:—एक बार एक मनुष्य ने साधु के पास जाकर पूछा कि—'हे स्वामी! मुझसे अधिक तो नहीं हो सकता; इसलिये मुझे कोई ऐसा सरल उपाय बतलाइये कि जिससे मेरी मुक्ति हो जाये!' साधु ने कहा—'भाई, दूसरा कुछ नहीं हो सकता तो जो सबसे शक्तिमान हो, उसका भजन करो।—बस, यही धर्म का संक्षिप्त सिद्धान्त है।' वह मनुष्य घर पहुँचकर सोचने लगा कि सबसे शक्तिमान कौन है? विचार करते-करते वह सो गया। सबेरे उठकर देखा तो उसके कीमती कपड़े, चूहे ने काट डाले थे। उसे बड़ा क्रोध आया... किन्तु उसी समय साधु का वचन याद आ गया और निर्णय कर लिया कि बस! यह चूहा ही शक्तिमान है; इसलिये इसी का भजन करूँ। ऐसा सोच ही रहा था कि एक बिल्ली आकर चूहे पर झपटी और चूहा भागा। तुरन्त उस आदमी का विचार बदला कि चूहे की अपेक्षा बिल्ली अधिक शक्तिमान है, इसलिये उसका भजन करूँ।—इसीप्रकार बिल्ली के बाद कुत्ते का, कुत्ते के बाद अपनी स्त्री का ओर अन्त में स्वयं अपनी शक्ति का बल देखकर अपना भजन करने लगा।—यह तो सिद्धान्त समझाने के लिये एक कल्पित दृष्टान्त है। जिस प्रकार वह मूर्ख, कुत्ते-बिल्ली का भी भजन करने लगा, उसी प्रकार तीव्र अज्ञानवश जीव धरणेन्द्र-पद्मावती-शीतला आदि अनेक कुदेव-देवी-देवताओं का भजन करने लगते हैं; वहाँ से कुछ आगे बढ़ें तो निमित्त को और कर्म प्रकृति को ही बलवान मानकर उसे भजने लगते हैं। कदाचित् इससे भी कुछ आगे बढ़े तो अंतर के शुभराग से लाभ मानकर उसके भजन में अटक जाते हैं। किन्तु जब श्रीगुरु के निकट जाकर पूछते हैं कि प्रभो! अभी तक मैंने अनेक देवी-देवताओं का भजन किया, निमित्तों को माना, पूजा-भक्ति कर-करके शुभराग की भी उपासना की, तथापि मेरी मुक्ति क्यों नहीं हुई? तब श्रीगुरु कहते हैं कि—भाई, सुन! अभी तक तूने जिन-जिन का भजन किया है, उनमें किसी में ऐसी शक्ति नहीं है कि तुझे मुक्ति दे सकें। मुक्ति दे सके—ऐसी शक्ति तो तेरे आत्मा में ही है; इसलिये उस शक्तिमान को पहिचानकर उसका भजन कर तो अवश्य मुक्ति होगी। शक्तिमान को भूलकर अन्य का भजन करे तो मुक्ति कहाँ से हो सकती है? इसलिये शक्तिमान को भज। तेरे आत्मा में ही ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि वह तेरी मुक्ति का साधन हो।

जगत के छहों द्रव्यों में जीवद्रव्य महान है; जीवों में भी पंचपरमेष्ठी महान हैं; पंचपरमेष्ठी में

भी सिद्ध महान हैं, इसलिये उन्हें भजो;—किन्तु अरे! वह सिद्धपद प्रगट होने की शक्ति तो अंतरंग में नित्य प्रत्यक्ष ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव में भरी है; इसलिये अपने शुद्ध आत्मस्वभाव का ही भजन करो।—ऐसा संतों का उपदेश है। श्री प्रवचनसार की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—'पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय उपादेय है; उसमें भी पंचपरमेष्ठी उपादेय हैं; उन पंचपरमेष्ठी में भी अरहंत और सिद्ध उपादेय हैं, उनमें भी सिद्ध उपादेय हैं; और वस्तुतः (परमार्थतः) रागादि रहित अंतर्मुख होकर, सिद्ध जीवों के सदृश परिणमित स्वकीय आत्मा ही उपादेय है।'

होनेरूप ऐसा जो सिद्धरूप भाव अर्थात् निर्मल पर्यायरूप भाव, वह कार्य है। उसका कर्ता कौन? आत्मा स्वयं भावक होकर उसे करता है, इसलिये आत्मा स्वयं ही कर्ता है। अपनी श्रद्धाशक्ति द्वारा सम्यग्दर्शनादि कार्य का कर्ता आत्मा स्वयं ही होता है; आत्मा स्वयं ही ज्ञानशक्ति द्वारा केवलज्ञान का कर्ता होता है। आत्मा स्वयं ही चारित्रशक्ति द्वारा चारित्र का कर्ता होता है। इसप्रकार अपनी अनंत शक्ति के कार्य के कर्तारूप आत्मा स्वयं ही होता है—ऐसी उसकी कर्तृत्वशक्ति है। पर्याय में जो-जो नया-नया कार्य सिद्ध होता है, उस-उस कार्यरूप से परिणमित होकर आत्मा स्वयं कर्ता होता है। यह कर्तापना आत्मा का स्वभाव है। जहाँ ऐसा कहा है कि 'कर्तापना आत्मा का स्वभाव नहीं है,' वहाँ तो विकार के तथा जड़ कर्म के कर्तृत्व की बात है और यहाँ तो निर्मल पर्यायरूप कार्य के कर्तृत्व की बात है;—यह कर्तृत्व तो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है। ज्ञानानन्दस्वभावी अनंत शक्ति-सम्पन्न भगवान आत्मा को जानकर जहाँ उसका आश्रय किया, वहाँ आत्मा की कर्तृव्यशक्ति के कारण ज्ञानगुण ने कर्ता होकर, ज्ञानभावरूप कार्य किया; श्रद्धागुण ने कर्ता होकर सम्यग्दर्शनरूपी कार्य किया, आनन्दगुण ने कर्ता होकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन दिया;—इसप्रकार अनंत गुणों ने कर्ता होकर अपनी-अपनी निर्मलपर्यायरूप कार्य को किया। कर्तृत्वशक्तिवाले आत्मा को पहिचानने से आत्मा अपने निर्मलभाव का ही कर्ता होता है और विकार का कर्तृत्व उसे नहीं रहता। कर्तृत्वशक्तिवाला आत्मस्वभाव त्रिकाल एकरूप है; उस एकरूप स्वभाव में एकता से निर्मल-एकरूप कार्य ही होता रहता है। आत्मा की कर्ताशक्ति ऐसी नहीं है कि वह राग का कर्ता हो; आत्मा की कर्ताशक्ति तो ऐसी है कि वह निर्मल भावों का ही कर्ता होता है। जहाँ मात्र विकार का कर्तृत्व है, वहाँ आत्मा की कर्तृत्वशक्ति की प्रतीति नहीं है।

'आत्मा में तो अनंत शक्ति है, इसलिये वह पर के कार्य कर सकता है'—ऐसा अनेक मूढ़ जीव मानते हैं। यहाँ आचार्यदेव उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! जगत के एक परमाणु या स्कंध को

भी आत्मा करे—ऐसी कर्ताशक्ति उसमें नहीं है। हाँ, एक क्षण में समस्त विश्व को साक्षात् जानने का कार्य करे—ऐसी कर्ताशक्ति आत्मा में है। आत्मा की शक्ति का कार्य आत्मा में होगा या बाहर? आत्मा की अनंत शक्तियाँ हैं। उन समस्त शक्तियों का कार्य आत्मा में ही होता है; एक भी शक्ति ऐसी नहीं है कि आत्मा से बाहर कोई कार्य करे। अहो! मेरा आत्मा, मेरी समस्त शक्तियाँ और समस्त शक्तियों का कार्य—इस सबका मेरे अंतर में ही समावेश होता है,—ऐसी अंतर्दृष्टि करना, सो अपूर्व कल्याण है।

जिस प्रकार यह आत्मा और अन्य सर्व आत्मा जगत में स्वयंसिद्ध अनादि-अनंत सत् हैं; कोई उनका कर्ता नहीं है; उसी प्रकार अपनी पर्यायरूप कार्य का कर्ता होने की शक्ति भी आत्मा में स्वयमेव है; पर्याय का कार्य नवीन उत्पन्न होता है, इसलिये उसका कर्ता कोई दूसरा होगा—ऐसा नहीं है; आत्मा ही स्वयं उसरूप परिणमित होकर कर्ता होता है। धर्मी जानता है कि मेरा जो साधकभाव है, उसका मैं स्वयं कर्ता हूँ; मेरे आत्मा में ही उसका कर्ता होने की शक्ति है। अपने कार्य के लिये अन्य किसी कर्ता की आवश्यकता हो—ऐसा पराधीन वस्तुस्वरूप नहीं है। कार्य से भिन्न कर्ता नहीं है और कर्ता का कार्य अपने से भिन्न नहीं है; इसी प्रकार साधन आदि भी भिन्न नहीं है।—इसप्रकार अनंत शक्ति से अभेद आत्मस्वभाव की प्रतीति करके परिणमित होने पर सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक के निर्मल कार्य सिद्ध हो जाते हैं। द्रव्य की एक कार्यशक्ति में उसके समस्त गुणों के कार्यों का कर्तृत्व समा जाता है; इसलिये कर्ताशक्ति को ढूँढ़ने के लिये गुणभेद पर देखना नहीं रहता किन्तु अखण्ड द्रव्य पर देखना रहता है। अखण्ड आत्मद्रव्य के सन्मुख देखते ही उसकी परिपूर्ण शक्तियाँ प्रतीति में आती है और वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं।

सर्वज्ञ के समस्त शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागभाव है; और वह वीतरागभाव निरपेक्ष आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। पर के आश्रय से जो अपनी शक्ति माने, उसे पर की ओर के राग का अभिप्राय दूर नहीं होता और न कभी वीतरागता होती है। मेरी अनंत शक्तियाँ मेरे आत्मा के ही आश्रित हैं; मैं जो कार्य (सम्यग्दर्शनादि) करना चाहता हूँ, वह मेरे आत्मा के ही आश्रय से होता है—ऐसा निर्णय करके, स्वभाव का आश्रय करने से वीतरागभाव होता है, वह धर्म है, वह जैनशासन का सार है, वह संतों का आदेश है, और वही सर्व शास्त्रों का उपदेश है।

अनंत शक्तिवान शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा को देखें तो उसमें किसी परवस्तु को ग्रहण

करने, छोड़ने या बदलने का कर्तृत्व नहीं है; तथा विकार का कर्तृत्व भी उसमें नहीं है; उस समय स्वभाव में अभेद हुई निर्मल पर्याय का ही कर्तृत्व है। पर्यायदृष्टि से देखने पर क्षणिक विकार का कर्तृत्व है, किन्तु उतना ही आत्मा को माने तो उसने आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना है।

आत्मा भावक होकर किसे भायेगा? अथवा आत्मा कर्ता होकर किसे करेगा? आत्मा भावक होकर (कर्ता होकर) विकार को अपने कार्यरूप से भाये—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है; किन्तु आत्मा भावक होकर अपने स्वभाव में से प्राप्त होनेवाले निर्मलभाव को ही भाये—ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव की दृष्टि में धर्मात्मा निर्मल भावरूप से परिणमित होकर उसी का कर्ता होता है।

अहो! इस समयसार में आचार्यदेव ने आत्मस्वभाव की अनंत गम्भीर महिमा भरी है... इन शक्तियों में महान गम्भीरता है। अंतर में उतरकर आत्मा के साथ मिलाकर समझे, उसे महिमा की खबर पड़ती है। ऐसी शक्तियोंवाले आत्मस्वभाव को स्वीकार करने से साधकपर्याय तो हो ही जाती हैं। जहाँ आत्मस्वभाव को स्वीकार किया, वहाँ स्वभाव स्वयं साधक पर्याय का कर्ता होता है और वहाँ विकार का कर्तृत्व नहीं रहता। साधक अपने अखण्ड आत्मस्वभाव को साथ ही साथ रखकर उसी में एकत्वरूप से परिणमन करता है; इसलिये उसे निर्मल-निर्मल पर्यायें ही होती हैं। यह अन्तर्दृष्टि का विषय है और ऐसी अन्तर्दृष्टि से ही धर्म होता है।

आत्मा स्वयं अपने स्वभाव को जाने, वह मोक्ष का कारण है... और आत्मा, आत्मा को नहीं जान सकता—यह मान्यता संसार का कारण है। धर्मी जानता है कि स्व-पर को जाननेरूप सम्यग्ज्ञानरूप से परिणमित होना ही मेरा कार्य है; अज्ञानरूप से परिणमित होने का मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव को जानकर उसमें ज्ञान को एकाग्र किया, वहाँ समग्र जैनशासन आ गया। आत्मा जहाँ अपने स्वभावरूप से परिणमित हुआ, वहाँ मोह-राग-द्वेषादि शत्रु विलीन हो गये, इसलिये उसमें जैनशासन आ गया।

यह भगवान आत्मा वचनगोचर या विकल्पगोचर नहीं है किन्तु ज्ञानगोचर है; और वह भी अंतरोन्मुख ज्ञान द्वारा ही गोचर है। ज्ञान को अंतर्मुख करके अपने आत्मा को लक्ष में लेना, सो जैनधर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी रीति से जैनधर्म नहीं होता; और ऐसे जैनधर्म के बिना कभी किसी को कहीं किसी प्रकार मुक्ति नहीं होती।

'होनेवाला, वह कर्ता' और जो कुछ हो, वह उसका कर्म। मेरी जो पर्याय होती है, उसरूप

होनेवाला मेरा द्रव्य है—ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर जाती है, और सामान्यद्रव्य में तो विकार नहीं है, इसलिये द्रव्यस्वभाव विकाररूप होकर विकार का कर्ता हो—ऐसा नहीं होता। इसलिये द्रव्यदृष्टिवाला जीव विकार का कर्ता नहीं होता; वह तो निर्मल पर्यायरूप होकर उसी का कर्ता होता है। जिस प्रकार स्वर्णद्रव्य स्वयं कर्ता होकर स्वर्ण की पर्यायरूप होता है, किन्तु स्वर्ण कर्ता होकर लोहे की पर्यायरूप नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि वह कर्ता होकर अपनी स्वभावदशा को करता है; कर्ता होकर विकार करे—ऐसा आत्मा का द्रव्यस्वभाव नहीं है। कर्ता का इष्ट, सो कर्म है; कर्ता ऐसे आत्मा में रागादि विकारीभाव इष्ट नहीं है, वे तो उससे विपरीत है; इसलिये वह वास्तव में कर्ता का कर्म नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्यायें ही आत्मस्वभाव के साथ एकमेक होने से वे आत्मा का इष्ट है और वही कर्ता का कर्म है। ऐसे कार्य का कर्ता होना आत्मा का स्वभाव है।

'स्वाधीनरूप से परिणमित हो, वह कर्ता।' आत्मा का स्वाधीन परिणमन तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, और विकार तो पराधीन परिणमन है। स्व के आधीन होकर स्वाधीनरूप से अपने सम्यग्दर्शनादि को करे—ऐसी कर्तृत्व शक्तिवाला आत्मा है। ऐसे 'कर्ता' को जहाँ लक्ष में लिया, वहाँ साधकपर्याय सम्यग्दर्शनादि की सिद्धि हुई, और उस सिद्धरूपभाव के कर्तारूप से आत्मा परिणमित हुआ... अर्थात् वह धर्मी हुआ।

देखो, धर्म कैसे होता है, उसकी यह रीति कही जा रही है। धर्म की यह रीति समझने के साथ उच्च प्रकार का पुण्य भी बंधता है और उसके फल में स्वर्गादि का संयोग प्राप्त होता है। किन्तु धर्म के रुचिवान जीव को उस पुण्य की या संयोग की रुचि नहीं होती। जिसे पुण्य की या संयोग की रुचि-उत्साह-उल्लास है, उसे धर्म की रुचि-उत्साह या उल्लास नहीं है। जिसे पुण्य की रुचि होगी, वह पुण्य रहित आत्मा की ओर कैसे उन्मुख होगा? जिसे संयोग की रुचि हो, वह असंयोगी आत्मा की ओर क्यों ढलेगा? जिसे चैतन्यस्वभाव की ही रुचि है, वही चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होकर मुक्ति की साधना करता है। और जिसे संयोग की या राग की रुचि है, वह असंयोगी-वीतरागी चैतन्यस्वभाव का अनादर करके संसार की चारों दुर्गतियों में भटकता है।

मेरी समस्त पर्यायोंरूप होनेवाला मेरा शुद्धद्रव्य ही है; अन्य कोई नहीं। बस! जहाँ ऐसा निर्णय किया, वहाँ समस्त पर्यायों में शुद्ध द्रव्य का ही अवलम्बन रहा; इसलिये समस्त पर्यायें निर्मल ही होने लगीं। ऐसा निर्णय करनेवाले को शुद्ध आत्मा के ही आश्रय से एकाग्रता होने के

कारण पर की चिन्ता से विमुख हो गया; इसलिये एकाग्रचिन्ता निरोधरूप ध्यान हुआ। पर का मैं कर्ता और मेरी पर्याय पर से होती है—ऐसा जो माने, उसे पर की चिन्ता दूर होकर स्व में एकाग्रता नहीं होती; इसलिये उसे आत्मा का ध्यान नहीं होता; और आत्मा के ध्यान बिना वीतरागभावरूप धर्म नहीं होता। समस्त शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागभाव है और वह वीतरागभाव, शुद्ध आत्मा के हो आश्रय से होता है।... इसलिये शुद्ध आत्मा का आश्रय करना ही समस्त शास्त्रों का सार सिद्ध हुआ। इस समयसार की सुप्रसिद्ध १५वीं गाथा में आचार्यदेव ने यही बात स्पष्ट बतलाई है कि जो शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वह समस्त जिनशासन की अनुभूति है; जो शुद्धात्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन को जानता है। यह महान सिद्धान्त और जैन शासन का रहस्य है।

अहो! कुन्दकुन्दस्वामी तो भगवान थे... उन्होंने तो तीर्थंकर जैसा काम किया है... और अमृतचन्द्राचार्य उनके गणधर जैसे थे। संतों ने महान आश्चर्यजनक कार्य किये हैं। अहो! आकाश जैसे निरालम्बी मुनि तो जैनधर्म के स्तम्भ हैं। निरालम्बी आत्मा का स्पर्श करके उनकी वाणी निकली है। ऐसे वीतरागी संतों का, चैतन्यपद को प्राप्त करनेवाला परम हित-उपदेश प्राप्त करके आत्मा को ऊपर ले जाना अर्थात् अंतर्मुख होकर आत्मा की उन्नति करना ही जिज्ञासु आत्मार्थी जीवों का कर्तव्य है।

प्रभो! तेरी प्रभुता तुझमें विद्यमान है। तू पर को प्रभुता दे और पर से अपनी प्रभुता माँगे, उसमें तो तेरी पामरता है। अपनी प्रभुता की भीख दूसरों से माँगना, उसमें तेरी प्रभुता-शोभा नहीं है किन्तु दीनता है। उस दीनता को छोड़ और अपनी प्रभुता को धारण कर। जो जीव अपने आत्मा को प्रभुता को स्वीकार नहीं करता और मात्र बाह्यदृष्टि से भगवान के निकट जाकर कहता है कि 'हे भगवान! आप प्रभु हैं... हे भगवान! मेरा हित करो... मुझे प्रभुता दो!' तो भगवान उससे कहते हैं कि रे जीव! तेरी प्रभुता हमारे पास नहीं है भाई! तुझमें ही तेरी प्रभुता है; इसलिये अन्तरोन्मुख हो... अंतर्दृष्टि करके अंतर में ही अपनी प्रभुता को ढूँढ़! जिस प्रकार हमारी प्रभुता हममें है, उसी प्रकार तेरी प्रभुता तुझमें है; तेरा आत्मा ही प्रभुता से परिपूर्ण है। अपने आत्मा को सर्वथा दीन मानकर बाहर से तू अपनी प्रभुता ढूँढ़ेगा तो तुझे अपनी प्रभुता नहीं मिलेगी।—'दीन भयो प्रभुपद जपे, मुक्ति कहाँ से होय?' अपने में प्रभुता विद्यमान है, उसे तो मानता नहीं है और बाह्य में भटकात है, उसे तो मिथ्यात्व के कारण पामरता होती है।

राग होने पर भी, मैं राग जितना तुच्छ-पामर नहीं हूँ, किन्तु मैं तो प्रभुत्वशक्ति से परिपूर्ण हूँ; —इसप्रकार राग का उल्लंघन करके अपनी प्रभुता का स्वीकार करना, सो अपूर्व पुरुषार्थ है। अपनी

प्रभुता को भूलकर जीव संसार में भटका है और अपनी प्रभुता की सम्हाल करने से जीव स्वयं परमात्मा हो जाता है। जब तक देह से और राग से पार आत्मा की प्रभुता को अपूर्व प्रयत्न द्वारा न पहिचाने, तब तक भेदज्ञान-सम्यग्ज्ञान नहीं होता; और सम्यग्ज्ञान के बिना अज्ञानी को धर्म कैसा? इसलिये जिसे वास्तव में धर्म करना हो—धर्मी होना हो, उसे अपूर्व उद्यम करके अपने आत्मस्वभाव की पहिचान से भेदज्ञान करना चाहिये। भेदज्ञानी जीव अपने स्वभाव के आश्रय से निर्मल पर्यायरूप परिणमित होकर उसी का कर्ता होता है और विकार का कर्ता नहीं होता;—इसका नाम धर्म है।

अहो! आत्मा की यह शक्तियाँ बतलाकर अमृतचन्द्रदेव ने अमृत बहाया है... अरे जीव! ऐसी-ऐसी शक्तियाँ तुझमें ही हैं; तो अब तुझे बाह्य में कहाँ रुकना है!? अंतर में अपनी शक्तियों से परिपूर्ण सर्वगुण सम्पन्न अपने आत्मा का ही अवलम्बन कर... जिससे तेरा भव दु:खों से छुटकारा हो... और तुझे मोक्ष सुख की प्राप्ति हो।

—४२ वीं कर्तृत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

भगवान का मार्ग

भगवान का मार्ग अंतर्मुख है; श्रुतज्ञान के उपयोग को अंतर्मुख एकाग्र किये बिना भगवान के मार्ग के साथ आत्मा की परिणति का मेल नहीं बैठता। श्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करके आत्मस्वभाव में एकाग्र होने का ही भगवान का उपदेश है; इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है। भगवान के मार्ग के साथ तथा शास्त्रों के कथन से आत्मा की परिणति का मेल मिलना चाहिये; तभी भगवान के मार्ग की आराधना कहलाती है और तभी भगवान के कहे हुए शास्त्रों का भावश्रवण कहलाता है। (पूज्य गुरुदेव)

वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है

[पंचास्तिकाय, गाथा १७२ के अद्‌भुत प्रवचनों की झाँकी]

****

कुछ ही दिनों पहले श्री पंचास्तिकाय, गाथा १७२ पर पूज्य गुरुदेव के अद्‌भुत प्रवचन हुए थे... वीतरागी मोक्षमार्ग और उसकी साधना करनेवाले संत-मुनियों की दशा कैसी होती है, तत्सम्बन्धी अद्‌भुत भावभीनी धारा गुरुदेव ने बहायी... अहा, उन प्रवचनों में मोक्षमार्गी मुनिवरों की परिणति के जिस स्वरूप का मंथन होता था, उसका पान करने में श्रोतागण लीन हो जाते थे... और गुरुदेव का आत्मा तो अध्यात्म की मस्ती में झूलने लगता था... ऐसे उन प्रवचनों की कुछ झाँकी यहाँ मुमुक्षु पाठकों को दिखलाई जा रही है:—

****

मगसिर शुक्ला पंचमी के दिन १७२ वीं गाथा प्रारम्भ करने से पूर्व आचार्य भगवान की अति महिमा और बहुमान करके गुरुदेव ने कहा कि—वाह! आचार्य भगवन्त ने अद्‌भुत कार्य किया है; वीतरागी मोक्षमार्ग को खोलकर रख दिया है। असत्य के समक्ष वीतरागी तलवार निकालकर सत्यमार्ग की घोषणा की है। अहा, ऐसा वीतरागमार्ग! उसकी 'श्रद्धा करने की' रीति भी अद्‌भुत है। राग के एक सूक्ष्म अंश की भी रुचि हो तो वह जीव वीतरागमार्ग की श्रद्धा नहीं कर सकता। आनन्द की धारा में बहते हुए मुनिवर वेगपूर्वक मोक्षमार्ग में परिणमन करने पर भी बीच में उन्हें जितना राग का अंश रह जाता है, उतना मोक्ष की ओर का वेग रुकता है। आचार्य भगवान १७२ वीं गाथा में कहते हैं कि—

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि॥१७२॥

देखो, यह मोक्ष का मूल मंत्र! इसमें तो साक्षात् वीतराग का ही उपदेश है। अहा, मोक्ष की इच्छा रखनेवाले को कहीं किंचित्‌मात्र राग नहीं रकना चाहिये। राग, भवसागर से पार होने का साधन नहीं है, वह तो उदयभाव है और उसका फल संसार है; इसलिये मोक्षेच्छु का वह किंचित् भी कर्तव्य नहीं है। वीतरागभाव द्वारा ही भवसागर से पार हुआ जाता है, इसलिये पार होने के कामी का अर्थात् मोक्ष के इच्छुक का कर्तव्य साक्षात् वीतरागता ही है।

अहा! यह मोक्षेच्छु की बात तो देखो! कुन्दकुन्दाचार्यदेव ज्ञान के अथाह समुद्र थे...

आनन्द में झूलते थे.. आनन्द में झूलते-झूलते बीच में किंचित् राग का विकल्प उठा, उसी से यह सूत्र लिखे गये हैं। महासमर्थ होने पर भी उनकी कैसी भद्रता! कितनी निष्कपटता! (चित्र में कुन्दकुन्दाचार्य की मुद्रा बतलाकर पूज्य गुरुदेव ने भावपूर्वक कहा:) अहा! देखो तो, कितने भद्र! कितने निष्कपट!! बस, स्थिर हो गये हैं! स्वयं को किंचित् शुभराग वर्तता है, उसका भी बचाव नहीं करते... स्पष्ट कहते हैं कि अरे! हमें भी जो राग है, वह कलंक है। हम मोक्षार्थी हैं.. इतना राग भी हमारे मोक्ष में बाधक होने से कलंक है। बचाव किसके लिये? हम तो अपने मोक्ष की ही इच्छा करते हैं, राग की इच्छा नहीं रखते।

—ऐसे आचार्य भगवान मोक्षेच्छु जीव से कहते हैं कि—

भाई! राग की रुचि नहीं करना। 'होंसीडा होंस मत कीजे'। अर्थात् हे मोक्ष की रुचि रखनेवाले मोक्षार्थी! तू राग की रुचि मत करना। हम तो संयम के वीतरागी अमृत का पान करनेवाले हैं, उसमें राग तो कड़वा विष जैसा है। शास्त्र लिखा जाता है और उस ओर का किंचित् विकल्प उठता है, किन्तु उस विकल्प में हमारी रुचि नहीं है; यदि उसमें हमारी रुचि की कल्पना करोगे तो मोक्षमार्ग में वर्तती हमारी शुद्धपर्याय के प्रति तुम अन्याय करते हो। इसलिये इस राग की वृत्ति को हमारी रुचिरूप से स्वीकार न करना।—यह तो कलंक है! अहा! जिनके कथन की प्रमाणता साक्षात् तीर्थंकर भगवान जितनी है... और बड़े-बड़े आचार्य भी आदरपूर्वक जिनके सूत्रों का आधार देते हैं—ऐसे भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव यह कहते हैं—"मार्ग की प्रभावना के हेतु से हम यह कह रहे हैं, किन्तु विकल्प में हमारा उत्साह नहीं है; उत्साह तो स्वरूप में ही है। हमारे आत्मा में वीतरागी परिणति की उत्कृष्टता हो, वही वास्तव में मार्ग की प्रभावना है। विकल्प है, वह व्यवहार है, उस विकल्प में हमारा उत्साह नहीं है—व्यवहार में हमारा उत्साह नहीं है।"

मोक्षमार्ग में वर्तते हुए मुनियों को निश्चय-व्यवहार की संधि कैसी होती है—वह आचार्यदेव टीका में बतलायेंगे; किन्तु उसमें भी कर्तव्य तो वीतरागभाव ही है; अंशमात्र राग भी मोक्षार्थी का कर्तव्य नहीं है। राग करना भगवान का आदेश नहीं है; वीतराग भगवान का विधान तो वीतरागी अनुभूति करना ही है। रागादि उदयभाव के ज्वाररूप जो भवसागर, उसे भव्यजीव वीतरागभावरूपी नौका द्वारा पार करता है।

—यह बारह अंग का सार है। आचार्यदेव आमोद-प्रमोद में आकर कहते हैं कि विस्तार से बस होओ! जयवंत वर्ते यह वीतरागता, जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से समस्त शास्त्रों के तात्पर्यभूत है।

* * *

प्रवचन समाप्त होते ही वीतरागमार्ग और उसके उपासक संतों की जय जयकार से सभा मण्डप गूँज उठा था... इस गाथा के प्रवचनों में पूज्य बहिन श्री बहिन बारम्बार ऐसे जयनादपूर्वक अपना विशिष्ट प्रमोद व्यक्त करती थीं। उसमें हम भी अपना स्वर सम्मिलित करें—

वीतरागी मोक्षमार्ग की जय हो!

वीतरागमार्गी आचार्य भगवन्तों की जय हो!

वीतरागमार्ग-उपासक और दर्शक गुरुदेव की जय हो!

* * *

गाथा का प्रवचन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता था, त्यों-त्यों पूज्य गुरुदेव विशेष मुखरित होते जाते थे। छठवीं के प्रवचन में कहा कि अहा! देखो तो सही! आचार्यदेव हाथ में लेकर साक्षात् मोक्षमार्ग दिखला रहे हैं। सिद्धपद के पूर्णानन्द की प्राप्तिरूप जो मोक्ष, उसके मार्ग का मुख्य नेता कौन है?—तो कहते हैं वीतरागभाव; बीच में राग आये, वह मोक्षमार्ग में प्रधान नहीं हैं—मुख्य नहीं है, गौण है। गौण है, इसलिये व्यवहार है; और व्यवहार तो अभूतार्थ होने से हेय है। मोक्षमार्ग में वीतरागता ही अग्रसर अर्थात् मुख्य है; और वही निश्चयमोक्षमार्ग होने से उपादेय है। वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग का नेता अर्थात् मोक्षमार्ग में ले जानेवाला है; राग, मोक्षमार्ग में नहीं ले जाता है।

आचार्य भगवान प्रमोदपूर्वक कहते हैं कि—

जयवन्त वर्ते यह साक्षात् वीतरागता... जो कि मोक्षमार्ग का सार है... और जो समस्त शास्त्रों का तात्पर्य है। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने जितने शास्त्र कहे हैं, उनका सार यह वीतरागता ही है।—वह वीतरागता जयवन्त वर्ते.... इस वीतरागमार्ग के प्रकाशक संत जयवन्त वर्ते!

* * *

जो ऐसे वीतरागमार्ग को समझे, उसे उसके समझानेवाले संतों के प्रति कितनी विनय होगी!... कितना बहुमान होगा!!

राग में वर्तता होने पर भी, जिसे वीतरागी पंच परमेष्ठी भगवन्तों के प्रति विनय और बहुमान का आदरभाव उल्लसित नहीं होता, उसे तो वीतरागमार्ग श्रद्धा भी नहीं होती। वीतरागभाव की भावना भानेवाले को साक्षात् वीतरागता न हो, तबतक वीतरागी पुरुषों के प्रति (पंच परमेष्ठी के प्रति) परम भक्ति-विनय-उत्साह-बहुमान का भाव अवश्य आता है।—तथापि उसमें जो राग है, वह कहीं तात्पर्य नहीं है, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है—ऐसा नियम है, और वही मोक्षार्थी का कर्तव्य है।

चंदन वृक्ष की सुगन्धित छाया जैसी जो वीतरागता-परम शांति-उसमें राग तो अग्नि के समान जलन उत्पन्न करनेवाला है; वह मोक्षार्थी का कर्तव्य कैसे हो सकता है? इसलिये हे मोक्षाभिलाषी महाजनो! हे उत्तम पुरुषों! कहीं भी (अरहंत-सिद्ध के प्रति भी) राग किंचित् कर्तव्य नहीं है—ऐसा समझो... ऐसा समझकर जो मोक्षार्थी महाजन सर्व की ओर के (अरहंत-सिद्ध की ओर के भी) राग को छोड़कर स्वरूपलीनता द्वारा साक्षात् वीतरागभावरूप परिणमित होते हैं, वे भव्य महाजन वीतरागभाव द्वारा तुरन्त भवसागर से पार हो जाते हैं... और परम आनन्दरूप मोक्षपद को प्राप्त करते हैं।

ऐसा है... वीतरागी मोक्षमार्ग!

* * *

अहा! भावलिंगी संत, जो वन-जंगल में वास करते हैं, जिनके शरीर पर वस्त्र का ताना भी नहीं है और आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते जो मोक्षमार्ग में चले जाते हैं—ऐसे मुनि को 'महाजन' रूप से सम्बोधन करके कहते हैं कि—

हे मुनि! हे मोक्षार्थी महाजन! साक्षात् मोक्षमार्ग तो वीतरागभाव ही है, और वह वीतरागता ही तेरा कर्तव्य है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान के उपरान्त चारित्र द्वारा अन्तर में जो अमृत सागर उछला है, उसमें लीनता करने जैसी है, उसमें से किंचित् बाहर निकलने जैसा नही है, अर्थात् किंचित् भी राग कर्तव्य नहीं है।

जिसप्रकार नौका में बैठकर 'सिद्धवरकूट' जाते हुए नदी का मोड़ आने से लहरों की कलकल ध्वनि उठती थी,... उसीप्रकार रत्नत्रयरूपी नौका में बैठकर सिद्धपद की ओर प्रयाण करते हुए मोक्षमार्गी मुनिवरों की परिणतिरूपी सरिता का प्रवाह मोक्ष की ओर जा रहा है; उसके बीच में रागरूपी मोड़ आने से खलबलाहट होती है।

अहा! वनवासी वीतराग संत, वन के सिंह समान निर्भय थे...जगत से निर्भय संतों ने निडरतापूर्वक वीतरागमार्ग प्रकाशित किया है। लोग मानेंगे या नहीं—उसकी उन्हें कोई परवाह नहीं है। जो जीव मोक्षार्थी होगा, वह इस मार्ग की ओर आये बिना नहीं रहेगा। गुरुदेव गद्गद् होकर कहते हैं कि अरे! ऐसा स्पष्ट वीतरागमार्ग संतों ने खोलकर रखा है... तथापि लोग उसका विरोध करते हैं!! क्या किया जाये? सीमंधर परमात्मा तो विदेहक्षेत्र में बैठे-बैठे सब देख रहे हैं... कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं भी जानते हैं कि आजकल भरतक्षेत्र में शासन में ऐसा चल रहा है... किन्तु

क्या किया जाये? काल ही ऐसा है!... जीवों की योग्यता ही ऐसी है!... तथापि यह लोग भाग्यशाली हैं जो रुचिपूर्वक ऐसी बात सुनते हैं।

शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मा आनन्द का सागर है। जिसप्रकार रत्न प्राप्त करने के लिये समुद्र में डुबकी लगाकर गहराई तक उतरना पड़ता है, उसीप्रकार मोक्षार्थी मुनिवर आनन्दसागर की गहराई में उतरकर-अन्तर्मुख होकर-सम्यक्रत्नत्रय निकालकर शीघ्र निर्वाण प्राप्त करते हैं। देखो, जो चैतन्यसागर में डुबकी मारता है—उसमें उतरता है, वही शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है। जो बहिर्मुख राग में रहता है, उसे मोक्ष नहीं होता। जबतक राग रहेगा, तबतक तो क्लेश की परम्परा चलती रहेगी, और जब राग दूर होगा, तब साक्षात् मोक्ष होगा; इसलिये हे भव्य! एकबार ऐसी वीतरागता की रुचि लाकर उत्साहपूर्वक उसे स्वीकार तो कर!

किंचित् राग तो वर्तता है, तथापि आचार्यदेव कहते हैं कि 'जयवन्त वर्ते वीतरागता!' अपनी भूमिका के साथ मिलाकर कहते हैं कि अरे! यह राग आया इसकी, जय न हो किन्तु क्षय हो। वीतरागता जयवन्त वर्ते। राग द्वारा मैं अपनी जय नहीं मानता; वीतरागता ही साक्षात् मोक्ष का कारण है, इसलिये यह जयवन्त वर्ते!

मोक्ष का कारण तो परम वीतरागता है, और उस वीतरागता में ही इस शास्त्र का हृदय विद्यमान है। अहा! देखो, मोक्षमार्गी मुनिवरों का हृदय बोलता है... यह सन्त, शास्त्र का हृदय खोलते हैं। हम मोक्षमार्गी हैं, हमारे हृदय में परम वीतरागता का वास है, और शास्त्र के हृदय में भी परम वीतरागता ही विद्यमान है। परम वीतरागता के अतिरिक्त अन्य तात्पर्य निकाले (व्यवहार के राग को तात्पर्य माने) तो वह जीव, शास्त्र के हृदय को समझा ही नहीं है। राग, वह शास्त्र का हृदय नहीं है, वीतरागता में ही शास्त्रों के सम्पूर्ण हृदय का समावेश है। जिसप्रकार कोई मनुष्य अनेक प्रकार की उल्टी-सीधी बातें करता हो, वहाँ दूसरा मनुष्य उससे कहता है कि भाई! यह सब तो ठीक है; लेकिन जो कुछ तेरे मन में हो वह कह दे न! उसीप्रकार शास्त्र में निश्चय की, व्यवहार की, निमित्त की, कर्म की—आदि अनेक प्रकार की बातें भरी हैं, किन्तु उसका हृदय क्या है? संत, शास्त्र का हृदय खोलकर कहते हैं कि शास्त्र का हृदय तो परमवीतरागता करना ही है। परमवीतरागता में समस्त शास्त्रों के हृदय का रहस्य आ जाता है; यही सर्व शास्त्रों का आदेश है; यही सन्तों के हृदय की बात है, और यही मोक्ष का मार्ग है।

जयवंत वर्ते वह वीतरागता!

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपादस्वामी रचित 'समाधिशतक' पर परमपूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अध्यात्म-भरपूर, वैराग्य-प्रेरक प्रवचनों का सार

[ज्येष्ठ शुक्ला १, वीर सं० २४८२, 'समाधि शतक' गा० ११ से १४]

शरीर की क्रिया मुझसे होती है—ऐसा जो मानता है, वह शरीर को ही आत्मा मानता है और आत्मा को जड़ मानता है। आत्मा का लक्षण तो ज्ञान है—ऐसा वह नहीं जानता।

आत्मा ज्ञान लक्षणी प्रभु है और शरीर तो जड़-परमाणु से लक्षित है। शरीर में प्रतिक्षण अनंत परमाणु आते और जाते हैं किन्तु उससे कहीं आत्मा में एक भी प्रदेश कम या अधिक नहीं होता। पुद्गल के पिण्ड से चैतन्य पिण्ड बिलकुल पृथक् है। ऐसा जो नहीं जानता, वह बहिरात्मा शरीर में स्थित अपने आत्मा को शरीर ही मानता है और दूसरे में भी उसके शरीर को देखकर उसी को आत्मा मानता है। ''यह ज्ञानी तो बोलते हैं—खाते हैं—चलते हैं—हँसते हैं''—इसप्रकार अज्ञानी, देह की चेष्टा को ही आत्मारूप से देखता है और उससे ज्ञानी की पहिचान करता है, किन्तु ज्ञानी का आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है; देह से पार है और राग का भी वह कर्ता नहीं है, वह तो आनन्द और ज्ञानरूप परिणमित होता है;—ऐसा जाने तभी ज्ञानी की सच्ची पहिचान होती है; किन्तु उसे तो देह ही दिखता है, देह से भिन्न और ज्ञानस्वभाव से अभिन्न ऐसे ज्ञानी को जानता नहीं है, वह तो शरीर की चेष्टा को ही देखता है।

शरीर का नाश या उत्पत्ति होने पर मानो कि जीव ही नाश को प्राप्त हुआ और जीव उत्पन्न हुआ—ऐसा अज्ञानी मानता है, क्योंकि उसने शरीर को ही आत्मा माना है। अपने में भी ''शरीर छूटने से मेरा नाश हो जायेगा—मैं मर जाऊँगा—ऐसा मानता है, इसलिये मृत्यु का भय उसे सदैव बना ही रहता है। किन्तु मैं तो ज्ञानस्वरूप असंयोगी हूँ, शरीर जड़ है, उसके संयोग-वियोग से मेरी उत्पत्ति या विनाश नहीं है—ऐसा अज्ञानी नहीं जानता। पुनश्च, शरीर को ही आत्मा माना, इसलिये

शरीर का पोषण करनेवाले पाँच इन्द्रियों के विषय-भोगों को वह सुखकारी मानता है, इसलिये वह बाह्य विषयों से नहीं हटता और चैतन्य के सुख को नहीं जानता; विषय-रस के कारण चैतन्य के आनन्दरस को चूक जाता है और बाह्य में प्रतिकूलता आये—रोगादि हो—वहाँ अपने को दु:खी मानता है। इसप्रकार मात्र बाह्य संयोगों से ही अपने को सुखी-दु:खी मानकर, उसी में राग-द्वेष-मोह से प्रवृत्ति करता है, अन्तरोन्मुख नहीं होता।—ऐसा बहिरात्मा है। मेरा चैतन्यतत्त्व, देहादि संयोगों से भिन्न है—ऐसा यदि जान ले तो सर्व संयोगों में से राग-द्वेष का अभिप्राय छूट जाये और चैतन्य की अपूर्व शांति हो जाये। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के अतिरिक्त जो पुण्य-पाप से या बाह्य संयोग से जो अपने को ठीक मानता है, वह बहिरात्मा है, वह बाह्य में ही अपना अस्तित्व मानता है; अपने चैतन्य के भिन्न अस्तित्व को वह नहीं जानता है। देह ही मैं हूँ और जो देह के सम्बन्धी हैं, वे ही सब मेरे सम्बन्धी हैं—ऐसे दृढ़ अभिप्राय का मंथन अज्ञानी को हो रहा है; इसलिये पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर अपने स्वभाव के साथ सम्बन्ध नहीं करता—अर्थात् सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान नहीं करता, इसलिये उसे समाधि नहीं होती है।

मैं शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप ही हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य सभी मुझसे बहिरभाव हैं, वह मैं नहीं हूँ;—ऐसा भेदज्ञान करनेवाला ज्ञानी अंतरात्मा हैं। बाह्य वस्तुओं को वे स्वप्न में भी अपनी नहीं मानते, इसलिये चैतन्य से च्युत होकर बाह्य वस्तुओं में एकत्वबुद्धि से राग-द्वेष उनको नहीं होते। अज्ञानी तो आत्मा को देहादि बाह्यस्वरूप ही मानता है, देह-इन्द्रियों तथा बाह्य विषयों को वह हितरूप मानता है; इसलिये बाह्य पदार्थों की प्रीति छोड़कर चैतन्य की ओर कैसे ढलेगा ? जिसे हितरूप मानता है, उसका प्रेम कैसे छोड़ेगा ? ज्ञानी कभी चैतन्य का प्रेम नहीं छोड़ते और अज्ञानी बाह्य विषयों का। जिसने अंतर के चैतन्यस्वभाव को ही सुखरूप माना है, वह अंतरात्मा है; और जो बाह्य विषयों में सुख मानता है, वह बहिरात्मा है।—ऐसा जानकर बहिरात्मपना छोड़कर, अंतरात्मा होने के लिये यह उपदेश है ॥११॥

* * *

[वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ शुक्ला २, समाधिशतक गाथा १२]

यह आत्मा तो चैतन्यस्वभावी सूर्य है; देह से भिन्न है; उसे न जानकर, शरीर ही आत्मा है—ऐसा अज्ञानी को विभ्रम हो गया है। उस विभ्रम के कारण क्या होता है—वह कहते हैं:—

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥१२॥

देह ही मैं हूँ—ऐसे विभ्रम के कारण उस बहिरात्मा को अविद्या के संस्कार दृढ़ हो जाते हैं और इसीलिये जहाँ-जहाँ जाये, वहाँ-वहाँ सर्वत्र अपने को शरीररूप ही मानता है। अविद्या के संस्कार किसी पर के या कर्म के कारण हों—ऐसा नहीं है, किन्तु अपनी विभ्रमबुद्धि के कारण ही अविद्या के संस्कार हैं। जिसने चिदानन्दस्वरूप को स्वानुभव द्वारा नहीं जाना और देह को ही आत्मा माना, वह जीव भले ही चाहे जितने शास्त्र और चाहे जितनी विद्या पढ़ा हो, तथापि उसे अविद्या ही है। जहाँ चेतन और जड़ का भेदविज्ञान नहीं किया, वहाँ अविद्या ही है। और भले ही शास्त्र न पढ़ा हो,—अरे! तिर्यंच हो, तथापि यदि अंतर में अपने को चैतन्यस्वरूप देह से भिन्न जानता है तो वह सम्यक् विद्यावान् है, उसे अनादिकालीन अविद्या के संस्कार छूट गये हैं... वह अंतरात्मा है... धर्मात्मा है... मोक्ष का पंथी है।

देखो! मोक्षशास्त्र पर सर्वार्थसिद्धि जैसी महान टीका करनेवाले श्री पूज्यपाद स्वामी यहाँ स्पष्ट करते हैं कि विभ्रम के कारण ही आत्मा को अविद्या के संस्कार दृढ़ हुए हैं; कर्म के या पर के कारण अविद्या हुई-ऐसा नहीं है। कर्म, आत्मा को विकार कराता है—ऐसा माननेवाला भी जड़ को ही आत्मा मानता है यानी शरीर को ही आत्मा मानता है। विपरीत मान्यता के कारण ''शरीर ही मैं हूँ''—ऐसे विभ्रम के कारण अज्ञानी को अविद्या के संस्कार ऐसे दृढ़ हो जाते हैं कि जहाँ-जहाँ जाये, वहाँ शरीर में ही आत्मबुद्धि करता है। मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ तब ''मैं ही मनुष्य हूँ, मैं तिर्यंच नहीं हूँ'—ऐसा मानता है; किन्तु जहाँ तिर्यंच शरीर मिला, वहाँ अविद्या के संस्कार के कारण ऐसा मानता है कि मैं तिर्यंच ही हूँ।—इसप्रकार जिस-जिस शरीर का संयोग प्राप्त हुआ, उस-उस शरीर को ही अपना स्वरूप मानता है; किन्तु मैं तो अनादि-अनंत स्थित रहनेवाला चैतन्यमूर्ति हूँ, मैं कभी शरीररूप हुआ ही नहीं हूँ—ऐसा अज्ञानी नहीं जानता। शरीर को ही जीव मानता है; इसलिये शरीर छूटने पर मानो जीव ही मर गया—ऐसा अज्ञानी को भ्रम होता है। अज्ञानी को जो अविद्या के संस्कार हैं, वे अपने भ्रम के कारण हैं, किसी कर्म के या अन्य के कारण नहीं हैं। यहाँ तो ऐसा बतलाना है कि अरे भाई! भ्रम से देह को ही आत्मा मानकर तू अभी तक अनंत जन्म-मरण में भटका; अब देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर वह भ्रमबुद्धि छोड़... बहिरात्मदशा छोड़... और अंतरात्मा बन।

देहादि संयोग से अपना भला-बुरा मानना अथवा ''शरीर से सुखी तो सब बातों से सुखी''—ऐसी जिसकी मान्यता है, वह भी देह को ही आत्मा मानता है। अरे मूढ़! शरीर तो जड़ है;

उस जड़ में क्या तेरा सुख है ? शरीर भले ही निरोगी हो, तथापि अंतर में मोह के कारण जीव दु:खी हो रहा है। शरीर, सो मैं—ऐसी मान्यता ही अनादि का भ्रमणा रोग है; वह रोग दूर होकर निरोगता कैसे हो, उसकी यह बात है। देह मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्य हूँ; देह की निरोगता से मुझे सुख नहीं है या देह के रोग से मुझे दु:ख नहीं है; मैं तो देह से पार अतीन्द्रिय चैतन्य हूँ—ऐसे चैतन्य का भान करे तो मिथ्या मान्यतारूपी रोग दूर हो और सम्यग्दर्शनादि निरोगता प्रगट हो—वही सुख है।

शरीर, सो मैं—ऐसी वासना की गंध जीव को बैठ गई है; इसलिये देह के कार्यों को ही अपना कार्य मानकर अज्ञानी वर्तता है; किन्तु चैतन्य की गंध (रुचि) अंतर में नहीं उतारता। देहादि का छेदन-भेदन हो, रहें या जायें, किन्तु वह मैं नहीं हूँ; शरीर के छेदन-भेदन से कहीं मेरा छेदन-भेदन नहीं होता; देह के वियोग से मेरा नाश नहीं होता; मैं तो चैतन्यस्वरूप असंयोगी शाश्वत् हूँ;—ऐसी भेदज्ञान की भावना से आत्मज्ञान करे तो अविद्या के संस्कार का नाश हो जाता है। जिस प्रकार कुएँ पर पड़ा हुआ कठिन पत्थर भी बारम्बार रस्सी की रगड़ से कट जाता है, उसी प्रकार देह से भिन्न चिदानन्दतत्त्व की बारम्बार भावना के अभ्यास से अनादि अविद्या के संस्कारों का नाश होकर भेदज्ञान होता है-अपूर्व ज्ञानसंस्कार प्रगट होते हैं ॥१२॥

देह ही मैं हूँ—ऐसी मिथ्याबुद्धि के कारण अज्ञानी पुन: पुन: देह को ही धारण करता है और ज्ञानी तो देह से भिन्न चिदानन्दतत्त्व को जानते हुए देह को धारण नहीं करते। इसप्रकार बहिरात्मा और अंतरात्मा के कार्य का भेद बतलाते हैं—

देह में ही स्वबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा अपने को पुन: पुन: शरीर के साथ युक्त करके—नये-नये शरीर धारण करके संसार में भटकता है। और अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि रखनेवाला अंतरात्मा अपने आत्मा को शरीर से भिन्न कर देता है। इसप्रकार बहिरात्मा की शरीरबुद्धि का फल संसार है और अंतरात्मा की आत्मबुद्धि का फल मोक्ष है। जिसप्रकार लोक में कहा जाता है कि चुडैल-डाकिन को बुलाने से वह लग जाती है और न बुलायें तो चली जाती है; उसी प्रकार यह शरीररूपी चुडैल है; जो शरीर को अपना मानता है, उसी को वह लग जाती है; अर्थात् शरीर ही मैं हूँ—ऐसी मिथ्याबुद्धि के कारण ही जीव संसार में नये-नये शरीर धारण करके जन्म-मरण करता है। देह को अपने से भिन्न जानकर जो चिदानन्दस्वरूप आत्मा का सेवन करता है, उसे मोक्ष होने पर शरीर छूट जाता है—पुन: देह का संयोग नहीं होता। अशरीरीर आत्मा को चूककर जिसने शरीर को अपना माना, वही चार गति में परिभ्रमण करता है; किन्तु अशरीरी चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर जो उसकी आराधना करता है, वह अशरीरी सिद्ध हो जाता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने 'आत्मसिद्धि' में कहा है कि—

''छूटे देहाध्यास तो नहि कर्ता तूं कर्म,
नहि भोक्ता तूं तेहनो अे ज धर्मनो धर्म।''

''देह ही मैं हूँ''—ऐसा देहाध्यास यदि छूट जाये अर्थात् देह से पार मैं चिदानन्दस्वभाव ही हूँ—ऐसा यदि सम्यक् भान हो जाये तो वह आत्मा, देहादि का या कर्मों का कर्ता नहीं होता; तथा उसके फल का भोक्ता भी नहीं होता, वह तो अपने आत्मा को देहादि से तथा कर्मों से भिन्न जानकर अपने ज्ञानभाव का ही कर्ता-भोक्ता होता है और वही धर्म है; इसलिये पहले यथार्थ भेदज्ञान करने का उपदेश है।

* * *

[वीर सं० २४८२ ज्येष्ठ शुक्ला ३]

आत्मा को अनादिकाल से अशांति क्यों है और शांति कैसे प्राप्त हो—वह बात चल रही है।

आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है; वह शरीर से पृथक् ज्ञाता-दृष्टा है; आत्मा शरीर का ज्ञाता है किंतु स्वयं शरीर नहीं है; तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं ही शरीर हूँ; शरीर मेरा है।—ऐसी भ्रमबुद्धि के कारण वह चैतन्य में एकाग्र नहीं होता किन्तु देह की ममता से पुनः पुनः नये-नये शरीर धारण करता रहता है और शरीर के लक्ष से दुःखी—अशांत हो रहा है। उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे जीव! यह शरीर तू नहीं है, तू तो चैतन्यस्वरूपी अरूपी है, देह से भिन्न अपने स्वरूप को जान तो तुझे शांति हो। देहबुद्धि के कारण अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं काला, मैं श्वेत, मुझे सर्दी हुई, मुझे गर्मी हुई, मुझे रोग हुआ—इसप्रकार देह की अवस्थाओं को ही आत्मा मानता है। ठण्डा-गर्म तो शरीर होता है, आत्मा कहीं ठण्डा-गर्म नहीं होता; आत्मा को तो उसका ज्ञान होता है; वहाँ अपने ज्ञान को देह से पृथक् न जानकर, एकाकार मानकर अपने को ही सर्दी-गर्मी आदि का होना मानता है। इसप्रकार जड़ शरीर में ही मूर्च्छित हो गया है, वह असमाधि है और चैतन्य में सावधानी, सो समाधि है।

एक ओर चैतन्यमूर्ति आनन्दस्वरूप आत्मा; दूसरी ओर अचेतन-जड़ शरीर।

—इसप्रकार दो भाग करके भेदज्ञान किया है। शरीर और शरीर के सम्बन्धी समस्त परद्रव्य मेरे आत्मा से बाहर हैं और चिदानन्दस्वरूप आत्मा ही एक मेरा अंतरतत्त्व है;—इसप्रकार निज स्वरूप को नहीं जाना और शरीर को अपना माना, वहाँ अज्ञानी का बाह्य में परद्रव्यों के साथ सम्बन्ध बढ़ा और संसार उत्पन्न हुआ।

इस शरीर को तो 'भवमूर्ति' कहा है। आत्मा चिदानन्दस्वरूप है, वह आनन्द की मूर्ति है, और यह शरीर तो भव की मूर्ति है; इसलिये जिसे शरीर की रुचि है, वह जीव दीर्घकाल तक भवभ्रमण करता है। अरे! परम शुद्ध भवरहित इस भगवान आत्मा की प्रीति छोड़कर मूढ़ जीव जड़ शरीर की प्रीति करके उसमें सुख मान-मानकर जड़ के साथ युक्तता करते हैं। आत्मा के साथ शत्रुता करके आत्मा से विरुद्ध ऐसे जड़ शरीर के साथ मित्रता (एकताबुद्धि-देहाध्यास) करते हैं वही भवभ्रमण का मूल है। अनंत गुणस्वरूप आत्मा का अस्तित्व चूककर जिसने देह में ही अपना अस्तित्व माना, वह जीव देहाध्यास के कारण अनंत शरीर धारण करेगा।

मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा जानने की क्रिया का ही कर्ता हूँ; शरीर तो जड़ है, वह हिलता-चलता है, तथापि उसमें जानने की क्रिया नहीं होती; जानने की क्रिया तो मेरी ही है;—इसप्रकार जानने की क्रिया स्वरूप अपने आत्मा को देह से भिन्न जाने तो देहाध्यास छूट जाये और अल्पकाल में उसे देह रहित सिद्धपद प्रगट हो।

ऐसा मनुष्य अवतार प्राप्त करना अनंतकाल में दुर्लभ है। ऐसा मनुष्य अवतार प्राप्त करके अरे जीव! तू विचार तो कर कि "मैं कौन हूँ? कहाँ से हुआ हूँ? और मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? मेरा सम्बन्ध किसके साथ है?"—

"हुँ कोण छुं क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे? राखुं के अे परिहरुं?
अेना विचार विवेक भावे शांत चित्ते जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां सिद्धान्त तत्त्वो अनुभव्यां॥"

(श्रीमद् राजचन्द्र)

'मैं कौन हूँ'—यह शरीर तो अभी हुआ; आहार-जल से इस पुतले की रचना हुई; यह मैं नहीं हूँ; मैं तो आत्मा हूँ। मेरा आत्मा कहीं नया नहीं हुआ है, किन्तु शरीर का संयोग नया हुआ है। यह आत्मा पहले (पूर्व भव में) दूसरे शरीर के संयोग में था, वहाँ से शरीर को छोड़कर यहाँ आया;—इसप्रकार आत्मा तो त्रिकाली स्थायी तत्त्व है और देह तो क्षणिक संयोगी है। मेरा स्वरूप तो ज्ञान-आनन्दस्वरूप है; शरीर-इन्द्रियाँ मेरा स्वरूप नहीं है, वह तो जड़ का रूप है; उन शरीरादि के साथ मेरा सचमुच कोई सम्बन्ध नहीं है, उनके साथ का सम्बन्ध तोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप के साथ ही संबंध जोड़ने जैसा है। अपने चिदानन्द-तत्त्व के अतिरिक्त जगत के किन्हीं पदार्थों के साथ मेरा एकता का संबंध कदापि नहीं है।—ऐसा सर्व प्रकार से विचार करके, अंतर्मुख चित्त से

ज्ञानानन्द स्वरूप अपने आत्मा का निर्णय करना और देहादि को अपने से बाह्य—भिन्न जानना, वह सिद्धान्त का सार है। इसप्रकार ज्ञानानन्दस्वरूप की पहिचान करके उसमें एकाग्रता द्वारा परमात्मा होने का प्रयत्न करना चाहिये। यह शरीर तो जड़ है, उसमें से कहीं परमात्मदशा नहीं आती; परमात्मदशा तो आत्मा में से आती है; शरीर से भिन्न ऐसे आत्मा को जानकर उसमें एकाग्रता द्वारा परमात्मदशा होती है; इसलिये देह में आत्मबुद्धि छोड़कर, अंतर के आत्मस्वरूप की श्रद्धा से अंतरात्मा होकर, परमात्मा होने का उद्यम करने योग्य है ॥१३॥

अब चौदहवीं गाथा में आचार्यदेव करुणाबुद्धि से कहते हैं कि अरे! ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा को चूककर यह जगत बाह्य में देह को ही अपना मानकर तथा स्त्री-पुत्र-सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थों को भी अपना मानकर निंदनीय प्रवृत्ति करता है; 'हा हतं जगत्!' अरे! दु:ख है कि अपनी चैतन्य समृद्धि को भूला हुआ यह जगत बाह्य सम्पत्ति में मूर्च्छित हो रहा है! स्वयं बहिरात्म बुद्धि के अनंत दु:ख से छूटकर चिदानन्द तत्त्व को जाना है और जगत के जीव आत्मा को जानकर बहिरात्मबुद्धि के अनंत दु:खों से छूटें—ऐसी करुणाबुद्धि से पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि—

देहेष्वात्मधिया जाता: पुत्रभार्यादिकल्पना:।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं! जगत्॥१४॥

देह में आत्मबुद्धि के कारण यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री, यह मेरा पति, यह मेरे माता-पिता—ऐसी कल्पना बहिरात्मा को होती है; तथा बाह्य में प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देनेवाले गृह-लक्ष्मी-वस्त्राभूषण आदि सम्पत्ति को आत्मा की मानता है—'हा हतं जगत्!' अरे! जगत बेचारा भ्रम से ठगा जा रहा है। खेद है कि चैतन्य की आनन्द सम्पदा को भूलकर जगत के बहिरात्म जीव बाह्य सम्पत्ति को ही अपनी मानकर अपना हनन कर रहे हैं—आत्मा की सुधबुध भूलकर यह जगत अचेत जैसा हो गया है; उसे देखकर संतों को करुणा आती है।

देह को आत्मा मानना, वह भ्रमणा है, वह भ्रमणा मिथ्यात्व है; मिथ्यात्व महान कषाय है; उस कषायरूपी होली में बहिरात्मा सुलग रहे हैं; शांत स्वरूप चैतन्य को भूलकर बेचारे कषायाग्नि में जल भुनकर दु:खी हो रहे हैं; अरे रे! वे ठगे जा रहे हैं... भावमरण में मर रहे हैं; इसलिये अरे जीवों! तुम समझो कि देहादि बाह्य पदार्थ आत्मा के नहीं हैं; आत्मा तो उनसे पृथक् ज्ञान और आनन्दस्वरूप है; ऐसे आत्मा को जानने—मानने—अनुभवन करने से ही दु:ख दूर होकर शांति-समाधि होती है।

''अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा सर्वज्ञ का स्वीकार''

वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है

सर्वज्ञता का निर्णय करने में कैसा अपूर्व पुरुषार्थ है और अंतर्मुख होकर वह निर्णय करनेवाले को अपने आत्मा में से कैसी नि:शंकता आ जाती है—उसका आत्मस्पर्शी अद्‌भुत वर्णन पूज्य गुरुदेव अनेक बार करते हैं। यहाँ भी उस सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि—''पहले निर्णय करो कि इस जगत में सर्वज्ञता को प्राप्त कोई आत्मा है या नहीं? यदि सर्वज्ञ हैं तो उन्हें सर्वज्ञतारूपी कार्य किस खान में से प्राप्त हुआ? चैतन्यशक्ति की खान में सर्वज्ञतारूपी कार्य का कारण होने की शक्ति भरी है। ऐसी चैतन्यशक्ति की ओर उन्मुख होकर सर्वज्ञ का स्वीकार करने से उसमें अपूर्व पुरुषार्थ आता है। सर्वज्ञ का स्वीकार करने से पुरुषार्थ उड़ जाता है'—ऐसा जो माने उसकी तो महान स्थूल भूल है। केवलज्ञान और उसके कारण की प्रतीति करने से स्वसन्मुख अपूर्व पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है; वह जीव नि:शंक हो जाता है कि अपने आत्मा के आधार से सर्वज्ञ की प्रतीति करके मैंने मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ किया है, और सर्वज्ञ के ज्ञान में भी इसीप्रकार आया है..... मैं अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करूँगा.... यही सर्वज्ञ के ज्ञान में भी भासित हुआ है।''

अहा! जो सर्वज्ञतारूपी कार्य का कारण हो, उसकी महिमा की क्या बात कहें! मात्र केवलज्ञान का नहीं किन्तु केवलज्ञान के साथ-साथ केवलदर्शन, अनंत आह्लाद, क्षायिक श्रद्धा, अनंत वीर्य—इन सबका कारण होने की आत्मा में शक्ति है। केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा की प्रतीति करनेवाले को आत्मा की ऐसी शक्ति प्रतीति में आ ही जाती है, क्योंकि कार्य की प्रतीति करते हुए उसके कारण की प्रतीति भी साथ आ ही जाती है। 'कार्य में इतनी शक्ति प्रगट हुई तो उसके कारण में भी उतनी ही शक्ति भरी ही है'—इसप्रकार कार्य-कारण की प्रतीति एक साथ ही होती है। कारण की स्वीकृति के बिना कार्य की प्रतीति नहीं होती। कारण और कार्य दोनों में से एक में भी जिसकी भूल है, उसकी दोनों में भूल है।

लोग 'केवलज्ञान... केवलज्ञान' कहते हैं; हमारे भगवान सर्वज्ञ-केवलज्ञानी थे—ऐसा कहते हैं, किन्तु वास्तव में उनकी पहिचान नहीं है। अहा, अचिंत्य सामर्थ्यवान केवलज्ञानरूपी पूर्ण

कार्य जिसमें से आया, वह कारण कैसा है ? उसे यदि पहिचान ले तो अपूर्व सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान हो।

अहो, ऐसे केवलज्ञान का स्वामी आत्मा!—उसकी प्रतीति किसके सन्मुख देखने से होगी ?—इसप्रकार अन्तर्मुख होने पर ही ऐसे आत्मा की प्रतीति होती है। उसका विश्वास आये बिना भगवान का भी विश्वास नहीं आता। आहा, केवलज्ञानी पिता!—उनका अचिन्त्य सामर्थ्य! उसे प्रतीति में लेकर जिसने केवलज्ञानी पिता का अपने अन्तर में पदार्पण कराया, उनका आदर किया, उस जीव के ज्ञान में अन्य सबका आदर नहीं रहा, उसका ज्ञान चिदानन्दस्वरूप की ओर उन्मुख हो गया। केवलज्ञानरूपी 'कार्य' को प्रतीति में लेने से उसके 'कारण' रूप अन्तर्-स्वभाव की ओर उन्मुखता हो जाती है और उस कारण के साथ एकता होने पर उसे कार्य का प्रारम्भ (सम्यग्दर्शनादि) हो जाता है।

'जगत में केवलज्ञान है'—ऐसी यदि प्रतीति करे तो 'आत्मा में केवलज्ञान होने की शक्ति है'—ऐसी प्रतीति भी साथ में हो ही जाती है। केवलज्ञानी परमात्मा जगत में हैं, तो उनका केवलज्ञानीरूपी कार्य कहाँ से आया ? उस कार्य का कारण होने की शक्ति किसमें है ? चैतन्यशक्ति में ही उसका कारण होने की शक्ति है। इसप्रकार अन्तर्मुख कारणपरमात्मा के सन्मुख होकर ही कार्यपरमात्मा की (केवलज्ञानी भगवान की) प्रतीति होती है। कारण के सन्मुख होकर उसका स्वीकार किये बिना कार्य की भी प्रतीति नहीं होती।

पहले निर्णय करो कि इस जगत में सर्वज्ञता को प्राप्त कोई आत्मा है या नहीं ? यदि सर्वज्ञ हैं, तो उनका वह सर्वज्ञतारूपी कार्य किस खान में से आया ? चैतन्यशक्ति की खान में सर्वज्ञतारूपी कार्य का कारण होने की शक्ति भरी है—ऐसी चैतन्यशक्ति-सन्मुख होकर सर्वज्ञ का स्वीकार करने से उसमें अपूर्व पुरुषार्थ आता है। 'सर्वज्ञ का स्वीकार करने से पुरुषार्थ उड़ जाता है'—ऐसा जो मानता है, उसकी तो महान स्थूल भूल है; उसे न तो सर्वज्ञ की खबर है, न मोक्ष के पुरुषार्थ की खबर है और न आत्मा के सामर्थ्य की खबर है। अहो! ऐसे केवलज्ञानी सर्वज्ञ और ऐसा उनका कारण—इसप्रकार कार्य-कारण की प्रतीति करने से स्वसन्मुख अपूर्व पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि मेरा पुरुषार्थ कब प्रारम्भ होगा ? वह निःशंक हो जाता है कि—मैंने अपने आत्मा के आधार से सर्वज्ञ की प्रतीति करके मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ किया है और अनंत सर्वज्ञ भगवन्तों के ज्ञान में भी इसीप्रकार आया है। अब मुझे अनंत भव हैं ही नहीं और सर्वज्ञ भगवन्तों के ज्ञान में भी मेरे अनंत भव नहीं आये; मैं अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करनेवाला हूँ और

सर्वज्ञ के ज्ञान में भी ऐसा ही आया है। देखो, यह सर्वज्ञ की प्रतीति करनेवाले की सामर्थ्य! देखो यह पुरुषार्थ! देखो यह निःशंकता! यहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।

केवलज्ञान के कारणरूप जो त्रिकाली स्वभावशक्ति है, वह परम शुद्ध निश्चयनयात्मक है; और जो केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट हुआ, वह शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयात्मक है। इसप्रकार उस-उस नय के साथ उसके विषय को अभेद करके कहा है। भगवान का केवलज्ञान शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय का विषय है, उस अपेक्षा से उसे शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयात्मक कहा है; किन्तु भगवान को स्वयं कहीं नय नहीं होता; जहाँ सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान हो गया, वहाँ नय नहीं रहते। साधक जीव जब—'केवलज्ञानी भगवान ऐसे हैं'—ऐसा विचार करता है, उस समय उस साधक के ज्ञान में शुद्धसद्भूत व्यवहारनय का व्यापार होता है; और उस केवलज्ञान के कारणरूप अपने आत्मा का जो सहज ज्ञानस्वभाव है, उसे जानने में जब अपना उपयोग लगाये, तब उस साधक के ज्ञान में 'परमशुद्धनिश्चयनय' वर्तता है। इसप्रकार साधक को निश्चय और व्यवहारनय होते हैं। तथापि उनमें व्यवहारनय आश्रय करने योग्य नहीं है और निश्चयनय आश्रय करनेयोग्य है—यह बात यहाँ भी लागू करके समझना चाहिये। व्यवहारनय के विषयभूत केवलज्ञानपर्याय का आश्रय करते हुए रागवृत्ति का उत्थान होता है; इसलिये वह कर्तव्य नहीं है; और निश्चयनय के विषयरूप शुद्ध आत्मद्रव्य का आश्रय करने से निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है; इसलिये उसका आश्रय ही कर्तव्य है; उसके द्वारा ही आत्मा को आनन्दमय सिद्धपद का चिरजीवन प्राप्त होता है। [—पौष पूर्णिमा; नियमसार गाथा १३ के प्रवचन से]

''नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति''

बुद्धिमान जनों को भगवान सर्वज्ञदेव की पूजा करना योग्य है, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान ने मोक्ष का मार्ग दर्शाया है, इसप्रकार भव्य जीवों पर सर्वज्ञ भगवान का उपकार है... और सत्पुरुष उपकार को भूलते नहीं हैं। सर्वज्ञ भगवान का उपदेश झेलकर, अन्तर्मुख होकर जो जीव, मोक्षमार्ग को प्राप्त हुआ, वह विनय एवं बहुमानपूर्वक भगवान के उपकार को प्रसिद्ध करता है कि अहो! भगवान के प्रसाद से हमें मोक्षमार्ग की प्राप्ति हुई। भगवान की कृपा से हमें मोक्षमार्ग मिला... भगवान ने ही प्रसन्न होकर हमें मोक्षमार्ग दिया। इसप्रकार अपने ऊपर किये गये उपकार को सत्पुरुष भूलते नहीं हैं। इसमें भी वास्तव में तो जब स्वयं अन्तर्मुख होकर मार्ग को प्राप्त किया, तभी सच्चे उपकार का भाव आता है।

अन्तर्स्वभाव की सन्मुखता और पर से विमुखता-उपेक्षा कराये—ऐसा उपदेश ही सच्चा हितोपदेश है; ऐसा हितोपदेश जिन संतों ने दिया, उन संतों के उपकार को मुमुक्षु सत्पुरुष भूलते नहीं हैं। भगवान ने और संतों ने क्या उपदेश दिया?—सच्ची शांति का उपदेश दिया। हे जीवों! स्वभावोन्मुख होने से ही तुम्हें शांति होगी, बाह्य लक्ष से शांति नहीं हो सकती। शुभरागरूप व्यवहार भी पर के आश्रय से होनेवाला बहिर्लक्षीभाव है; वह कहीं शांति का दाता नहीं है; अंतर्मुख-वृत्तिवाला स्वाश्रितभाव ही शांति देनेवाला है। अहा! ऐसा उपदेश झेलकर जो अन्तर्मुख हुआ, वह मुमुक्षु उन उपदेशक संतों के उपकार को नहीं भूलता।

जीव के हित का उपाय सम्यग्ज्ञान है; और उस सम्यग्ज्ञान का उपदेश भगवान की वाणी में आया है; इसलिये भगवान का उपकार मानकर सत्पुरुषों के लिये भगवान पूज्य हैं। अहा! जगत के मुमुक्षु जीवों पर सर्वज्ञ भगवान का महान उपकार है; भगवान की कृपा है; भगवान के प्रसाद से ही जीवों को सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है; भगवान की प्रसन्नता से ही सम्यक्चारित्र होता है।—इसप्रकार सम्यग्ज्ञानादि हित के उपाय प्राप्त करने में भगवान का उपकार है; ज्ञानी उस उपकार को नहीं भूलते। ज्ञान में निमित्त कैसा है, उसे अच्छी तरह जानकर विनय करते हैं।

भगवान को कहीं प्रसन्नता का विकल्प नहीं है, परन्तु साधक जीव अपनी प्रसन्नता का आरोप करके कहते हैं कि ''अहा, भगवान मेरे ऊपर प्रसन्न हुए; भगवान के प्रसाद से मुझे मोक्षमार्ग

की प्राप्ति हुई।''—ऐसा विनय का मार्ग है। यद्यपि भगवान की ओर का विकल्प भी बन्ध का कारण है—ऐसा साधक धर्मात्मा जानते हैं, तथापि धर्मी को ऐसे बहुमान का भाव आता है; क्योंकि सत्पुरुष किये हुए उपकार को नहीं भूलते।

जो अज्ञानी, राग को धर्म मानता है, उसने वीतराग का वीतरागी उपदेश नहीं झेला है, और इसलिये उस पर वास्तव में वीतराग की कृपा या वीतराग का उपकार नहीं है; तथा उसे भी वीतराग के प्रति सच्ची (पहिचानपूर्वक की) भक्ति नहीं आती।

भगवान अंतर्मुख होकर वीतराग हुए; भगवान के श्रीमुख से वीतराग वाणी निकली, वह वीतरागता का ही उपदेश देती है। वह उपदेश झेलकर जो जीव वीतरागमार्ग की ओर ढला, वह वीतराग के उपकार को नहीं भूलता।

भगवान को पूर्वकाल में साधकदशा में वीतरागता के विकल्प उठते थे; उनके निमित्त से बँधी हुई वाणी में भी वीतरागी बोध का स्रोत बहता है। जो भव्य अंतर्मुख होकर वीतरागता की ओर आया, उसी ने वीतराग की वाणी झेली है और उसी पर वीतराग का उपकार है; उस सत्पुरुष को वीतराग के प्रति विनय-भक्ति-बहुमान का भाव आये बिना नहीं रहता... क्योंकि—

''न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति''

(-नियमसार गाथा ६, कलश के प्रवचन से)

पोरबन्दर में—

समुद्र के किनारे पर

फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी के दिन पूज्य गुरुदेव पोरबन्दर पधारे और वहाँ सेठ श्री भूरालालभाई और श्री नेमिदासभाई आदि ने उनका भावभीना स्वागत किया। पोरबन्दर में लगातार आठ दिन तक अमृत का समुद्र उछलता रहा।

समुद्र के किनारे ही (टाउन हाल में) पूज्य गुरुदेव का विश्राम स्थल था... एक ओर समुद्र उल्लसित होता था तो दूसरी ओर उसके किनारे ही गुरुदेव का प्रवचन-समुद्र उछलता था... पूर्णिमा के चन्द्र को देख-देखकर समुद्र इसप्रकार उछलता था मानों वह चन्द्रस्थित जिनबिम्ब से

भेंट करना चाहता हो... इधर गुरुदेव के हृदय में स्थित सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्र द्वारा स्याद्वादरूपी समुद्र उछलता था...और उसमें भव्यजीव निमग्न होते थे... अहा! गम्भीर सागर का प्राकृतिक दृश्य ऐसा लग रहा था मानो चैतन्य के आनन्दसागर को प्रकाशित कर रहा हो! दूसरी ओर गुरुदेव की वाणी में आनन्दसागर की ऊर्मियाँ उठती थीं।

उल्लसित ऊर्मियों द्वारा समुद्र मानों श्रुतसागर का गुणगान कर रहा हो कि "अरे! मैं तो खारा हूँ और यह ज्ञानसागर तो मीठा अमृत समान, आनन्द से परिपूर्ण है। मेरे अन्दर गिरनेवाले जीव तो डूबते हैं, जबकि इस ज्ञानसमुद्र में गिरनेवाले जीव भवसागर को पार कर लेते हैं"—ऐसा समझकर वह समुद्र भी उछल-उछलकर ज्ञानसमुद्र का अभिनन्दन करता था... और उसके मुँह से फेन निकलता था—मानों चैतन्य सागर का गुणगान कर-करके खूब थक गया हो! उस खारे समुद्र को छोड़कर चैतन्य समुद्र के अमृत का पान करने के लिये अनेक जीव गुरुदेव के प्रवचन में दौड़े आते थे।

समुद्र के किनारे खड़ा हुआ प्रकाश स्तम्भ जहाजों को मार्ग दर्शन कराता था, तो दूसरी ओर गुरुदेव शुद्ध आत्मा की दृष्टिरूपी प्रकाश स्तम्भ द्वारा भव्य जीवों के लिये मुक्तिमार्ग प्रकाशित करते थे। समुद्र का दृश्य देखकर नेत्र तृप्त होते थे... तो गुरुदेव की वाणी में उछलते हुए सुख समुद्र को देखकर (सुनकर) भव्य जीवों के हृदय शांत होते थे... और ऐसा लगता था कि पुनः पुनः उसका श्रवण करते ही रहें। इसप्रकार लगातार आठ दिन तक पोरबन्दर के समुद्र-तट पर अमृत का सागर उछलता रहा।

सम्यग्ज्ञान-सुधांशु द्वारा गुरुदेव ने जो आनन्द का सागर उल्लसित किया, उसमें जगत के भव्य जीव निमग्न हों... शांतरस से भरपूर वह चैतन्य समुद्र लोक पर्यंत उछल रहा है... भ्रम को तोड़कर भव्य जीव उस ज्ञान समुद्र में मग्न होओ—

"मज्जन्तु निर्भरममी समयेव लोका
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ता
आप्लाव्य विभ्रमतिस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोध सिन्धु॥"

(समयसार टीका)

क्षय!

सोनगढ़ से डेढ़ मील दूर अमरगढ़ ग्राम में क्षय का (टी.बी. का) बड़ा अस्पताल है; वहाँ जिज्ञासु रोगियों को दर्शन देने के लिये पूज्य गुरुदेव कभी-कभी पधारते हैं। एकबार वहाँ से लौटने पर गुरुदेव ने वैराग्यपूर्ण उद्‌गार निकालते हुए कहा था कि—

अरे, देखो न! क्षय के अस्पताल में कैसे-कैसे नौजवान आदमी हैं! बीस-पच्चीस वर्ष की उम्र हो, सशक्त शरीर हो, चढ़ता हुआ खून हो, तथापि क्षणभर में क्षय रोग लग जाता है;—वहाँ आत्मा क्या करे? क्या आत्मा की ऐसी भावना है?—नहीं। किन्तु जीव की इच्छा शरीर में कैसे काम आ सकती है? जीव या तो देह की ओर देखकर दु:खी हों या आत्मा की ओर देखकर समाधान करें। अज्ञानी, देह की ओर देखकर उसी में अपनी शरण मानता है, इसलिये देह में क्षयरोगादि होने पर मानो अपनी सर्वस्व चला जा रहा हो—इसप्रकार हताश और दु:खी होता है। भाई रे! तू तो नित्यस्थायी चिदानन्दतत्त्व है और यह देह तो जड़ क्षणिक संयोगरूप है; यह शरीर तेरा नहीं है, शरीर में तेरी शरण नहीं है, इस शरीर का एक रजकण भी तेरे साथ नहीं रहेगा। इसलिये देह की दृष्टि छोड़ और देह से भिन्न अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्दमय आत्मा की दृष्टि कर। देह की सुरक्षा करने से आत्मा के गुणों में क्षयरोग लागू हो जाता है—उसका यथार्थ विचार कर। देह के क्षय की चिन्ता छोड़कर आत्मा में कर्मों का क्षय कैसे हो और गुणों का क्षय कैसे रुके—उसका विचार कर। अक्षयस्वरूप चैतन्य के आश्रय से कर्मों का क्षय करने पर तुझे भाव आरोग्यमय ऐसे सिद्धपद की प्राप्ति होगी और फिर कभी उस पद का क्षय नहीं होगा—इसलिये उसका आश्रय और लक्ष करके उसकी भावना कर!

सच्चे सुख के लिये सीधा मार्ग (यथार्थ उपाय)
प्रकाशनेवाले
तत्वज्ञान के लिये सुरुचिपूर्ण ग्रन्थ

१- सम्यग्दर्शन-(दूसरी आवृत्ति)

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। जो अपना असली स्वरूप-स्वाधीनसुख और उसका सच्चा उपाय समझने में स्वच्छ दर्पण समान है, इस बात को अच्छे ढंग से शास्त्राधार सहित बताया है, जैनधर्म में ही सच्चा विश्व दर्शन क्यों है। सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध करके स्वतंत्र वस्तुस्वभाव समझने की अनेक बात स्पष्ट करने में आई हैं। आद्योपांत पढ़े बिना उसका महत्व ख्याल में नहीं आता। पृष्ठ सं० २६६ मूल्य १.६३।

२- लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—

जो गाइड है—जैन तत्त्वज्ञान में सुगम शैली द्वारा प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित सुगम और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर हैं, सभी में प्रचार होने योग्य है। थोक लेने पर कमीशन देंगे। पृष्ठ संख्या १०५, मूल्य ०.१९ नये पैसे।

३- श्री जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह-

जो भक्ति पूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये उपयोगी पुस्तक है। जिसमें भारतवर्ष के प्रायः सब तीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में पूजा के समय जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं, और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत आवश्यक जानकारी और कहाँ से कहाँ जाना इत्यादि वर्णन होने से अति उपयोगी है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १.४५। १० पुस्तक एक साथ लेने पर कमीशन देंगे।

४- जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३

जिसमें सर्वोत्तम शैली से शास्त्राधार सहित तत्त्वार्थों के विषय में ऐसा समाधान दिया है कि

शास्त्रों का अर्थ नहीं समझनेवालों का भी सच्चा नि:शंक समाधान हो सकता है और सभी को उपयोग में आने योग्य है। पृ० सं० तीनों भाग की ४००, मूल्य प्रत्येक का ०.५६।

५- ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव-

जो जैनधर्म का महत्वपूर्ण तात्त्विक और प्रयोजनभूत ग्रन्थ है। जो जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधानरूप अपूर्व वस्तु स्वभाव के ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज़ है। इसके मुख्य विषय—

१- क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण तथा उनमें दोष कल्पना का निराकरण है।

२- सम्यक् अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद-जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का सच्चा पुरुषार्थ तथा अनेकान्त।

३- अनेकान्त, निमित्त उपादान, निश्चय-व्यवहार।

४ - द्रव्य पर्याय संबंधी अनेकान्त।

५- अनन्त पुरुषार्थ।

६. वस्तुविज्ञान अंक जिसमें श्री प्रवचनसारजी गाथा ९९ के ऊपर पू० श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रवचनों का सार है।

७- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो इस विषय में प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है उस पर खास प्रवचनों का सार—जिसमें नियतनय, अनियतनय, कालनय, अकालनय से वर्णन है बढ़िया जिल्द सुन्दर कागज व आकर्षक बढ़िया टाइप में उत्तम छपाई है, पत्र सं० ४०० मूल्य २-५० नये पैसे।५० पुस्तक लेने पर १० टका के हिसाब से कमीशन देंगे।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्त पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्व प्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० मूल्य लागत मात्र, ५) पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मंगानेवाले को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मंगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

छप रहा है!! शीघ्र ही छप रहा है!! छप गया!!!

श्री पंचास्तिकाय शास्त्र

श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत
जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है।
मूल्य ४॥)

पता— (१) श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
(२) श्री महेन्द्रकुमार सेठी
ठि० ६२ धनजी स्ट्रीट, मुंबई नं० ३

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	छप रहा है।	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५ ॥=)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्म पाठ संग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८ -१०-११-१२-१३	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।